International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 505-507

द्वितीय नगरीकरण के दौरान भारत में नगरों के उद्भव एवं विकास के कारण

चन्द्रोदय सिंह
इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा0 रा0मो0लो0अ0वि0, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

भारत में नगरों का उद्भव एवं विकास उल्लेखनीय है। सिन्धु घाटी में स्थित हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों नामक स्थानों पर विकसित नगर सभ्यता से स्पष्ट होता है कि भारत में नगरों की उत्पत्ति प्रागैतिहासिक काल से ही हो चुकी थी यद्यपि आर्य सभ्यता ग्राम प्रधान थी, लेकिन नगरों का विकास धीरे–धीरे बराबर होता ही रहा। कालान्तर में नगर प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र बन गये।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में ग्राम एवं नगर का अपना अलग–अलग स्थान रहा है। भारत को मात्र ग्रामवासियों का देश मानना गलत है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही भारत में नगरों का अस्तित्व रहा है। वास्तविकता यह है कि ग्राम और नगर हमारी संस्कृति के दो आधार–स्तम्भ हैं। जिनको भारत के भौतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में विस्मृत नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति के विकास मे यहाँ के प्राचीन नगरों का अपना योगदान रहा है।

''नगर'' शब्द की उत्पत्ति नागर शब्द से हुई है। ''उयदनारायण राय'' के अनुसार नगर एक ऐसा विशाल समूह है, जिसकी जीविका के प्रधान साधन उद्योग तथा व्यापार हैं। वो व्यावसायिक ग्राम से खाद्यान्न प्राप्त करता है।[1] जबकि ग्राम उस क्षेत्र को कहते है, जहां जीविका के साधन स्रोत प्रधानताः कृषि एवं कृषि उत्पाद हुआ करते हैं, नगर एवं ग्राम में यह अन्तर चिरकाल से चला आ रहा है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो एवं सैन्धव–सभ्यता के अन्य नगर प्रधानतः उद्योग एवं व्यापार पर आधारित नगर थे। जबकि वैदिक काल में ''ग्राम'' प्रधानतः कृषि एवं पशुपालन पर आधारित थे। इस तथ्य पर विचार किये बिना कि सिन्धु सभ्यता के जनक भारत के निवासी थे अथवा विदेश से आये थे, लेकिन इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रागैतिहासिक काल से ही आर्यो के आगमन से पूर्व ही भारत में नगरों का प्रादुर्भाव हो गया था।

द्वितीय नगरीकरण के दौरान भारत में नगरों के उद्भव एवं विकास के लिए अनेक कारण सुझाये गये है इनमें से प्रमुख कारणों का उल्लेख निम्न प्रकार है।

छठीं शताब्दी ई0पू0 में नगरों के उदय और विकास में लोहे का ज्ञान एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उत्तर वैदिक काल से ही आर्य लोहे के प्रयोग से परिचित हो चुके थे। उत्तर वैदिक साहित्य मे लोहा अथवा श्याम अयस् का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के स्थलों से लोहे के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं 1000 ई0पू0 के पश्चात् उत्तरी और पूर्वी भारत के अनेक स्थलों के उत्खनन से लोहे के बने सामान मिले है जैसे आलमगीरपुर, अतरंजीखेड़ा, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, नोह, चिरॉंद, महिषदल इत्यादि। लोहे की जानकारी और इसके व्यवहार ने न सिर्फ आर्यो के गंगा घाटी में प्रसार में सहायता पहुँचाई, बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था को भी क्रान्तिकारी रूप में प्रभावित किया। लोहे का कृषि में उपयोग होने से कृषि का विस्तार संभव हुआ। लोहे के बने हल के फाल की सहायता से खेतों की गहरी जुताई संभव हुई, जिससे कृषि का उत्पादन बढ़ा। अब किसान अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज उगाने लगे। इस अवशेष उत्पादन के आधार पर समाज में अनेक ऐसे शिल्पों का उदय हुआ, जिनके शिल्पी कृषि पर आश्रित नहीं थे। लोहा तांबा अथवा कांसा की तुलना में अधिक टिकाऊ था। अतः लोहे के ज्ञान और इसके कृषि में व्यवहार ने आरम्भिक आर्यों की पशुचारण अर्थव्यवस्था को समुन्नत कृषि अर्थव्यवस्था में परिवर्तित कर नगरों के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह प्रक्रिया 6ठीं शताब्दी ई0पू0 और इसके बाद भी चलती रही, जिसका अर्थव्यवस्था पर व्यापक और अनुकूल प्रभाव पड़ा।[2]

कृषि अधिशेष के आधार पर छठीं शताब्दी ई0पू0 से अनेक नये व्यावसायिक वर्गो का उदय हुआ। इनमें कुछ तो विभिन्न शिल्पों में लगे हुए थे तो कुछ दूसरों की सेवा कर अपनी जीविका चलाते थे जैसे–धोबी, नाई, दर्जी, भृत्य आदि।[3] इस समय मिट्टी के बर्तन बनाने वालों, लकड़ी का काम करने वालो[4], चमड़े का काम करने वालों, वस्त्र बुनने वालों, माला और इत्र बनाने वालों का व्यवसाय बढ़ा।[5] जातक कथाओं में इनका उल्लेख मिलता है। ये जहाँ पर बसे वह स्थान बड़े कस्बे या नगर का स्वरूप लेने लगा, क्योंकि इनके द्वारा बनाये गये सामानों की खपत वहाँ हो जाती थी। निकटवर्ती क्षेत्रों से लोग आकर इनका सामान खरीदते थे, इन व्यवसायियों का कृषि से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, ये अपना पूरा समय अपने व्यवसाय में लगाते थे।

नये व्यवसायों के उदय के साथ वैसी बस्तियों की स्थापना सुगम हो गयी जहाँ एक ही प्रकार के व्यवसायी रहते थे। जातक कथाओं में बढ़ई, धोबी, कुम्भकार, लुहार, जुलाहों इत्यादि की बस्तियों का उल्लेख मिलता है। ये बस्तियाँ ग्रामों के बाहर या उनके निकट ऐसे स्थानों पर बसायी गयी, जहाँ से कारीगरों को अच्छा माल प्राप्त करने की सुविधा हो। इसके साथ–साथ ऐसी बस्तियाँ प्रमुख मार्गों अथवा नदियों के नजदीक बसायी गयीं, ताकि कच्चा माल प्राप्त करने एवं बना हुआ माल बेचने में सुविधा हो। ऐसी बस्तियाँ कालान्तर में बाजारों और बाजारों से व्यावसायिक केन्द्रों और नगरों में परिवर्तित हो गई।

शिल्प और व्यवसाय के विकास के साथ–साथ व्यावसायिक संघों या श्रेणी का भी उदय हुआ इन संघों ने शिल्पियों एवं कारीगरों की सेवाविधियों को नियमित किया तथा उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बौद्ध साहित्य में 18 प्रमुख श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक श्रेणी को नगर के किसी एक भाग में स्थान दिया गया। इससे उद्योगों का स्थानीकरण बढ़ा। विभिन्न उद्योगों में संलग्न शिल्पियों ने इन शिल्पों को अपना पुश्तैनी धंधा बना लिया। इससे शिल्पियों की दक्षता एवं कार्यकुशलता बढ़ी। शिल्पियों द्वारा बनाये गये सामानों की मांग दूर–दूर तक होने लगी। शिल्पियों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने के लिए शिल्पी संघों

के प्रधान नगरों में रहने लगे। हरिवंश से विदित होता है कि राज्य के बड़े–बड़े उत्सवों में श्रेणी के अध्यक्षों को उच्च पदाधिकारियों की पंक्ति में स्थान दिया जाता था।[6] शान्तिपर्व में श्रेणिधर्म के उल्लंघन करने वाले को जघन्य अपराध का भागी ठहराया गया है[7]। इन शिल्पी संघ के अध्यक्षों ने शिल्पों के विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया और नगरीकरण की प्रगति में सहायता पहुँचाई।

छठीं शती ई0पू0 से व्यापार वाणिज्य का भी विकास हुआ। बौद्ध साहित्य से इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। जातक कथाओं में सार्थवाहों का उल्लेख मिलता है, जो 500 गाड़ियों के कारवां के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर सामान खरीदा–बेचा करते थे। गांधार और कम्बोज जैसे दूर स्थानों के व्यापारी वाराणसी तक व्यापार करने आते थे। सार्थवाहों के अतिरिक्त वणिक, सेट्ठी जो बड़े व्यापारी थे और शहरों में स्थाई तौर पर निवास कर व्यापार करते थे। आंतरिक व्यापार मुख्यतः स्थलमार्ग से किया जाता था। नदी मार्ग से भी व्यापार होता था। इस समय लंका, बर्मा, बेबीलोन, दक्षिण पूर्व एशियाई देशों के साथ विदेशी व्यापार का उल्लेख साहित्य में मिलता है।[8] विदेशी व्यापार के विकास के कारण पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट पर अनेक बंदरगाहों जैसे भरूकच्छ, सोपारा, ताम्रलिप्ति का उदय हुआ। व्यापार के विकास के कारण कारीगरों की गतिशीलता बढ़ गयी व्यापारिक मार्गों के किनारे अनेक बाजार बस गये, जो धीर–धीरे नगरों में परिवर्तित हो गए। उत्तरापथ के सभी प्रमुख नगर इस मार्ग से सम्बद्ध थे।

व्यापार के विकास में मुद्रा के प्रचलन की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यद्यपि वैदिक साहित्य में निष्क, शतमान जैसे शब्द मिलते हैं, किन्तु छठीं शती ई0पू0 से पहले सिक्कों के प्रचलन का प्रमाण पुरातात्विक साक्ष्यों से नहीं मिलता है। छठीं शाताब्दी ई0पू0 से आहत सिक्के बनने लगे। पालिग्रन्थों में सोने, चाँदी तथा ताँबें के सिक्कों के पर्याप्त उल्लेख मिलने लगते हैं। स्वर्ण मुद्रा के लिए निष्क[9], सुवर्ण, और स्वर्ण मासक, तथा हिरण्य आदि शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। ताँबे के सिक्कों को कार्षापण कहा जाता था तथा उनका प्रचार विशेष रूप में था तथा उनका प्रचार विशेष रूप में था। अष्टाध्यायी में भी निष्क स्वर्ण, सुवर्णमासक, शतमान, शाँण तथा कार्षापण आदि मुद्राओं का उल्लेख मिलता है[10]। सिक्कों के प्रचलन ने मौद्रिक अर्थव्यवस्था को जन्म दिया, इससे व्यापार वाणिज्य के विकास में वृद्धि हुई। इसका प्रभाव नगरों के उदय पर भी पड़ा। व्यापार वाणिज्य का विकास, सिक्कों के प्रचलन ने हिसाब–किताब रखने की व्यवस्था को भी सुगम बना दिया। इस समय संभवतः लेखन प्रणाली भी विकसित हुई, तथापि भारत के प्राचीनतम अभिलेख मौर्य शासक अशोक के समय से ही मिलते हैं।

नगरों के विकास को राजनीतिक परिर्वतनों ने भी प्रभावित किया। महाजनपदों के उदय के साथ कुछ वैसे केन्द्रों का उदय हुआ, जो पाटलिपुत्र या राजनीतिक सत्ता केन्द्र के रूप में विकसित हुए जैसे राजगृह, पाटलिपुत्र, वाराणसी, श्रावस्ती, तक्षशिला इत्यादि ये सभी केन्द्र सामरिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से बसाये गये, तथा ये प्रमुख मार्ग से जुड़े हुए थे। ऐसे केन्द्रों में न सिर्फ राजा रहने लगा बल्कि उसके साथ प्रशासनिक वर्ग, सेना, शिल्पी, कारीगर और व्यापारी भी रहने लगे। इस प्रकार सभी राजधानियाँ, राजनीतिक सत्ता केन्द्र के अतिरिक्त उद्योग, व्यापार शिक्षा और धार्मिक केन्द्र में परिवर्तित होती गयी। इससे इन केन्द्रों का महत्व बढ़ गया और वे नगर के रूप में विकसित हुए।

नगरों के विकास को उत्तरवैदिकयुगीन सामाजिक संरचना ने भी कुछ सीमा तक प्रभावित किया। वैदिक व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी। इसमें उत्पादक वर्ग (वैश्य) को प्रथम दो वर्णों से नीचे स्थान दिया गया था, लेकिन आर्थिक परिर्वतनों के कारण छठीं शताब्दी ई0पू0 तक वैश्यों की आर्थिक स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हो गयी। कृषि, शिल्प और वाणिज्य व्यापार के विकास ने वैश्यों को आर्थिक रूप से सम्पन्न बना दिया, परन्तु ग्रामों में वर्ण व्यवस्था के आधार पर उन्हें उचित सम्मान और अधिकार नहीं दिये गए। अतः वैश्य वर्ग धीरे–धीरे व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों की ओर आकृष्ट हुआ। वहाँ का वातावरण अधिक उन्मुक्त और ब्राह्मण व्यवस्था से स्वतंत्र था। वैश्यों ने वहाँ धन कमाने के अतिरिक्त पर्याप्त सम्मान भी अर्जित किया। अतः वैश्यों द्वारा लाई गयी आर्थिक सम्पन्नता ने नगरों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[11] सभी औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र नगरों के रूप में विकसित हो गये। इन नगरों का आर्थिक एवं सामाजिक जीवन ग्रामों से भिन्न रहा। शहरी और ग्रामीण जीवन का विभेद स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया।

द्वितीय नगरीकरण के विकास में छठी शताब्दी ई0पू0 में हुए धर्म सुधार आन्दोलन और नये धर्मों विशेषतः जैन और बौद्ध धर्मों के महत्व को भी स्वीकार करना पड़ा। इन दोनों धर्मों का उदय ब्राह्मण धार्मिक, सामाजिक व्यवस्था के विरोध स्वरूप हुआ। दोनों ने पशुधन की सुरक्षा के लिए जो नई अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक था, पशुवध पर प्रतिबन्ध लगाया गया, परन्तु जैन व बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यापार सूद की प्रथा और नगरी जीवन की अन्य विशेषताओं, गणिकाओं के सम्बन्ध में, धर्मसूत्रों के विपरीत था। आपस्तम्भ, बौधायन, इत्यादि नगरी जीवन को घृणा की दृष्टि से देखते थे, वे कर्ज और सूदखोरी को जो व्यापार वाणिज्य के विकास के लिए आवश्यक था, अनुचित मानते थे। अतः अधिकांश उत्पादक वर्गों और निम्न श्रेणी के लोगों ने इन धर्मों को अपना समर्थन दिया। बुद्ध और महावीर ने नई अर्थव्यवस्था और नगरी जीवन को अपना समर्थन दिया। दोनों ने ज्यादातर नगरों में ही अपने धर्मों का प्रचार किया। फलतः नगरीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला।

कुछ नगर शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। बौद्ध जैन और ब्राह्मण साहित्य से इस बात का बोध होता है तक्षशिला, बनारस एवं उज्जैन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। पाटलिपुत्र के निवासी जीवक ने तक्षशिला जाकर अध्ययन किया था, जो आगे चलकर आयुर्वेद का महान विद्वान बना। कौशल नरेश प्रसेनजित सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, कौटिल्य, पाणिनी (व्याकरणाचार्य) एवं पतंजलि आदि ने भी यहीं से शिक्षा प्राप्त की थी।[12] इस युग में शिक्षा के प्रसार ने नये विकसित हो रहे नगरों की ओर लोगों को आकर्षित किया। सेना में भर्ती और राज्य की नौकरी पाने की इच्छा से भी लोग राजधानी में बसने लगे थे।

उपरोक्त वर्णित तत्वों का विकास मौर्य और मौर्योत्तर युग में विशेषकर कुषाण काल में और अधिक हुआ। इस समय मुद्रा का प्रचलन बढ़ा, शिल्प और उद्योगों की संख्या में वृद्धि हुई। मध्य एशिया और रोमन सम्राज्य के साथ व्यापार का विकास हुआ।

फलतः कुषाण काल में पुराने नगरों का उदय भी हुआ। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में विदेशी व्यापार में ह्रास और मौद्रिक अर्थव्यवस्था के गिरावट के कारण नगरों का पतन हुआ। कुषाणकलीन और गुप्त–गुप्तोत्तरकालीन नगरों के उत्खनन से यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि न सिर्फ पूर्वोत्तर भारत में बल्कि पश्चिमी और दक्षिणी भारत, पाकिस्तान, ईरान, अफगानिस्तान और रूसी मध्य एशिया से जो पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं, वे यही दिखाते हे कि कुषाणकाल के बाद नगरों की आर्थिक सम्पन्नता नष्ट हो गयी, सिर्फ कवि और चारण ही गुप्त–गुप्तोत्तरकालीन नगरों की प्रशंसा करते नहीं अघाते हैं।

उपसंहार

नगरों के विकास के लिए ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि नगरों का उदय किसी एक कारण के फलस्वरूप नहीं हुआ, बल्कि अनेक कारणों ने इसमें अपना योगदान दिया। इस सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया गया है– राजनीतिक सत्ता और आर्थिक कारण। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में नगरीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व के सापेक्ष महत्व के विषय में पर्याप्त मतभेद है। नगरीकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम गार्डन चाइल्ड ने किया था। उनके अनुसार प्रौद्योगिक विकास के आधार पर अतिरिक्त उत्पादन हुआ जिसने अन्ततः नगरों के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया[13]। गार्डन चाइल्ड के इस मत की आलोचना एडम्स[14], ह्वीटले, गिडेन, जोबर्ग, ममफर्ड इत्यादि ने की है। इनका मानना है कि बिना एक सुविकसित सामाजिक–राजनैतिक संरचना के जो उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया को नियन्त्रित कर सके न तो अधिवेष उत्पादन हो सकता था और न ही इसका वितरण। अतः नगरों के उदय में आर्थिक कारणों से अधिक राज्य का योगदान था। अनेक विद्वान नगरों के उत्थान के लिए आर्थिक कारणों को ही उत्तरदायी मानते हैं। प्रो0 रामशरण शर्मा एवं अन्य अनेक भारतीय विद्वान आर्थिक कारणों को ही नगरों के लिए उत्तरदायी मानते है[15]। वस्तुतः नगरों का उदय किसी एक कारण के परिणामस्वरूप नहीं हुआ। आर्थिक कारणों के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, संरचना का भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान था।

संदर्भ

1. यू0एन0 राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ0 01
2. आर0एस0 शर्मा, आयरान एण्ड अर्बनाइजेशन इन द गंगा बेसिन, आई0एच0आर0 1974
3. वी0एस0 अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ0 230
4. जातक, 5/282
5. जातक, 2/15
6. हरिवंश, 86/5
7. महाभारत, 12/25/16 ''जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्व्वतः। वर्ज्जयन्ति च धर्म्म तेषां धर्मों न विद्यते।।''
8. मोतीचन्द्र, सार्थवाह
9. जातक, 4/460
10. वी0एस0 अग्रवाल, पूर्वोक्त, पृ0 258–266
11. डी0एन0 झा एवं के0एम0 श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 157
12. उपाध्याय, बुद्धकालीन भूगोल, पृ0 453–54
13. गार्डन चाइल्ड, द अर्बन रिवोल्यूशन, पृ. 12–17
14. रार्बट मैक एडम्स, द नेचुरल हिस्ट्री ऑफ अर्बनिज्म, पृ0 18–26
15. आर0एस0 शर्मा, भारतीय प्राचीन नगरों का पतन, पृ0 18–21